

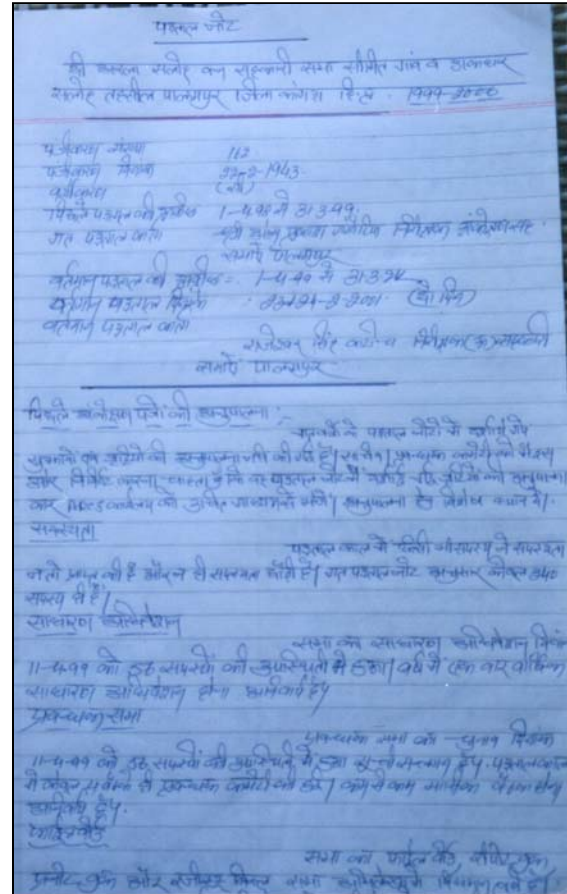
भविष्य की सम्भावनाएं

वर्तमान परिदृश्य

वर्तमान स्थिति का सहजता से संक्षिप्त विवरण दिया जा सकता है। सरकार तकनीकी तौर पर मानती है कि के.एफ.सी.एस. निलंबित सजीवता की दशा में है वास्तविकतः स्थिति यह है कि संस्थाएं (उनमें से कुछ) जीवित हैं और सक्रिय हैं। लोग, अपने जंगलों के प्रबन्ध व उपयोग से हर तरफ किए जाने और सरकार द्वारा उनके अधिकारों व अस्तित्व को अपनी मर्जी से अपने वश में किए जाने के ढंग से नाराज हैं व आक्रोश में हैं। के.एफ.सी.एस. अपने आप में सहभागी और टिकाऊ वन प्रबन्ध का हिमाचल प्रदेश में उपयुक्त वातावरण तैयार करने के लिए किए जाने वाले व्यापक संघर्ष के एक पहलु के रूप में, महत्वपूर्ण हैं। के.एफ.सी.

एस. सहभागी वन प्रबन्धन के लिए सरकार द्वारा किए गए प्राचीनतम प्रयासों का प्रतिनिधित्व करती है। परन्तु व्यापक रूप से लगता है कि सरकार की गतिविधियां स्थानीय समुदायों को वनों से जोड़ने के बजाए विमुख करने की

भविष्य की सम्भावनाएं



वर्ष 1999-2000 में अरला सलोह के.एफ.सी.एस. सम्बन्धी, सहकारिता विभाग के निरीक्षक द्वारा बनाई गई रिपोर्ट

दृष्टि से रची गई है । 1980 से हिमाचल प्रदेश के वन विभाग ने सहभागी वन प्रबन्धन के, लगभग वैसे ही परिणामों के लिए, विभिन्न ढांचे परखना जारी रखा है । और इनका हथ्र भी पहले जैसा ही होने वाला है । इन प्रयासों के हाल के इतिहास से, यह पूर्वानुमान लगाने और आगे बढ़ने के लिए ठीक रास्ता चुनने में सहायता मिल सकती है ।

हिमाचल प्रदेश में सहभागी-वन-प्रबन्धन का हाल का इतिहास

इण्डो-जर्मन-धौलाधार परियोजना (आई.जी.डी.पी.)

आई.जी.डी.पी. की अवधारणा इस दावे के इर्द-गिर्द गढ़ी गई कि हिमालय क्षेत्र की समस्याएं, सामाजिक-आर्थिक व पर्यावरणीय हैं और ये दोनों पक्ष एक-दूसरे पर आश्रित हैं या एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं । वर्ष 1980 से 1989 तक चली इस परियोजना के अन्तर्गत बिनवा नदी के ऊपरी जलागम क्षेत्र के धौलाधार के दामन में बसे 100 गांव आते थे । इस परियोजना ने लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करने के लिए एक योजना आरम्भ की जिसे नाम दिशा 'टूको' अर्थात् (आस्था एवं विश्वास) । एक पृथक सामाजिक विकास अनुभाग स्थापित किया जिसके माध्यम से गांव-समुदायों तक सम्पर्क साधा गया । आई.जी.डी.पी. ने गांव स्तर की संस्थाओं को पर्वत-प्रणालियों में परिवर्तन लाने के लिए सशक्त कारक मान कर; लगभग 53 गांव विकास कमेटियों, 73 युवक मण्डलों और महिला मण्डलों का गठन व सशक्तिकरण करने में सहायता की ।

आरम्भ में प्रत्येक मूल-गांव में सिलसिलेवार बैठके की गई । तदनन्तर स्थानीय समुदायों ने परियोजना में सम्मिलित किए जाने की प्रार्थना करनी शुरू कर दी । आई.जी.डी.पी. के कर्मचारियों की सहायता से प्रत्येक चयनित गांव में गांव-विकास-समिति का गठन किया गया । अपने में आस्था और अपनी योग्यताओं में विश्वास प्राप्त कर लेने के बाद-गांव-विकास-समितियों ने आई.जी.डी.पी. के कार्यक्रमों की योजना बनाने और क्रियान्वयन करने का काम आरम्भ कर दिया । ध्यान योग्य उपलब्धियां निम्नलिखित हैं ।

- चौड़ी पत्ती के पेड़ लगाना ताकि भविष्य में वे चारे का स्रोत बने और गांव-पौधशालाएं स्थापित करना ताकि गांव-समुदायों को निरन्तर पौधे उपलब्ध हों ।
- सामुदायिक बागीचे एवं चारा देने वाली फसलें लगाना ।
- बांधकर चारा खिलाने को लोकप्रिय बनाना और बन्द की गई और वन-रोपित भूमि पट्टियों में से घास का बराबर बंटवारा ।
- नस्ल-सुधार व अनुत्पादक पशुधन को घटाना और इस तरह किसानों की आय में वृद्धि करना ।
- महिलाओं के स्वास्थ्य और पाकशाला को स्वास्थ्यकर बनाने की दृष्टि से धुआं रहित धौलाधार चुल्हों के उपयोग को प्रोत्साहित करना ।
- कृषि सम्बन्धी जानकारी और प्रसार कार्य से कृषि उत्पादों को बढ़ाना ।

गांव स्तरीय संस्थाओं का, स्थानीय संसाधनों का प्रबन्ध करने की उनकी योग्यता में आस्था व विश्वास खड़ा करना, हिमाचल प्रदेश में सहभागी वन प्रबन्धन के लिए एक प्रशंसनीय व महत्वपूर्ण पग है । तदपि किसी सरकारी विभाग ने (वन विभाग समेत जो आई.जी.डी.पी. का मुख्य भागीदार है) आई.जी.डी.पी. द्वारा गठित गांव स्तरीय संस्थाओं को गांव समुदायों को गतिशील बनाने के लिए केन्द्रीय संस्था के रूप में मान्यता नहीं दी, इसलिए वह उपेक्षित हो गई और अन्ततः आई.जी.डी.पी. के समापन के साथ ही मृत-प्राय हो गई । वन विभाग की जो इस परियोजना रूपी प्रयोग के पीछे की मुख्य शक्ति थी, इसने इस सफल समुदाय-प्रबन्धित-वानिकी से, प्रकट रूप से, कोई सबक नहीं सीखा ।

सामाजिक वानिकी परियोजना

राष्ट्रीय-सामाजिक-वानिकी परियोजना हिमाचल प्रदेश में कुल 57 करोड़ रुपये के बजट के साथ 1985 और 1993 के बीच क्रियान्वित की गई । इस परियोजना के मुख्य उद्देश्य थे - ग्रामीण -निर्धन-लोगों के लिए, इमारती लकड़ी, ईंधन व चारे का उत्पादन बढ़ा कर - आय व रोजगार पैदा करना और निर्वनीकरण से हो रहे पर्यावरण के क्षरण को रोकना । इस योजना में, पेड़ों का

पट्टा निर्धन व भूमिहीनों को देना, सामुदायिक वन खण्ड लगाना (स्वयं-सहायता से व वर्षा पर आश्रित), नष्ट प्रायः वनों को पुनर्जीवित करना, किसान पौधशालाएं, पौधों का वितरण और निजी बंजर जमीनों पर विभिन्न प्रकार के पेड़ लगाना आदि कार्यक्रम शामिल थे । “वन लगाओं रोजी कमाओं” योजना जो बाद में घोषित की गई इसी परियोजना का एक घटक थी ।

इस परियोजना में हिमाचल प्रदेश के सभी 12 जिले सम्मिलित किए गए और इसकी गतिविधियों को गांव के लोगों के जरिये या उनके परामर्श के साथ क्रियान्वित किया गया । वन विभाग ने गांव वालों से संवाद ग्राम पंचायतों या दूसरी गांव स्तरीय संस्थाओं (यथा महिला मण्डल) के माध्यम से आरम्भ किया। पहली बार बहुत से गांवों में इस योजना को क्रियान्वित करने के लिए ग्रामीण वन विकास समितियां स्थापित की गईं । महिला मण्डल, ग्राम पंचायत व अनुसूचित जाति, सभी से एक-एक प्रतिनिधि समिति में डालकर, समस्त ग्राम समुदाय की सक्रिय भागीदारी सुनिश्चित करने के प्रयास फिर भी, सफल नहीं हुए । (सूद 1994) गांव विकास समितियों ने न तो सहभागी रचना-तन्त्र खड़ा किया और न ही योजना बनाने और प्रबन्धन करने के लिए “नीचे से ऊपर” वाली सोच विकसित की । स्थानीय वन उपभोक्ताओं के प्रतिनिधित्व का अभाव और संभ्रांत लोगों के प्रभुत्व के कारण यह प्रयोग लोगों को औपचारिक रूप से जोड़ने तक ही सीमित रहा । वन रक्षक अपने पद के कारण ग्राम विकास समिति का सदस्य सचिव होता था और वह गांव के लिए एकीकृत-संसाधन प्रबन्ध योजना तैयार करता था । जिससे वन विभाग का ही आशय पूरा होता न कि सामुदायिक-स्वामित्व का । जबकि कागज़ों में सामाजिक वानिकी परियोजना के अन्तर्गत 1,00,000 हैक्टेयर में वन रोपण किया गया पर लोगों की भागीदारी सीमित ही रही । वन विभाग लोगों की आवश्यकताओं को ध्यान में न रखते हुए अपनी पसंद की प्रजातियों (यथा युकालिप्टस) के पेड़ लगाता रहा। इस से कई समुदाय इसे “असामाजिक वानिकी” की संज्ञा भी देते हैं ।

सान्झा वन प्रबन्ध-एक राष्ट्रीय रणनीति

1970-80 के दशक के आरम्भ तक भारत भर के बहुत से वन-वैज्ञानिकों को विरासत में मिली वन-संरक्षण प्रणालियों की प्रभावकारिता पर गम्भीर सन्देह होने लगा था । लोगों को वनों से बाहर निकाल फँकने और

उनके अधिकारों को सीमित करने की प्रक्रिया को जारी रखने के बजाए उन्होंने लोगों को वन भूमि के प्रबन्धन में और वन भूमियों के, अवैध कटान, चरान, आग और अवैध कब्जों से संरक्षण के कार्य में जोड़ना शुरू किया। इसके बदले वन उपभोक्ताओं को घास, अन्तरिम उत्पाद व तैयार फसल में से हिस्सा देना स्वीकृत किया। यह कार्य-पद्धति पहले पश्चिमी बंगाल में शुरू की गई और फिर उड़ीसा, गुजरात, हरियाणा तक व तदनन्तर उत्तर प्रदेश और बिहार तक इसे बढ़ाया गया।

इन प्रयोगों व आन्दोलनों की सफलता ने राष्ट्रीय स्तर के नीति निर्धारकों को प्रभावित किया और 1988 में नई वन नीति लाने का मार्ग प्रशस्त किया। इस नीति के द्वारा व्यापारिक लकड़ी उत्पादन पर दिया जाने वाला जोर हटाकर, पर्यावरण स्थायित्व व परास्थितिकीय सन्तुलन सुनिश्चित करने के महत्व पर बल दिया। यह भी स्वीकार किया गया कि वनों से प्राप्त होने वाले उत्पादन पर पहला अधिकार आदिवासी समुदायों और वनों के समीप रहने वाले निर्धन लोगों का था। वर्ष 1990 भारत सरकार के पर्यावरण एवं वन मन्त्रालय ने 1988 की वन नीति को एक सरकारी आदेश द्वारा सभी राज्यों को उपहार के रूप में दिया और आग्रह किया कि नष्ट प्रायः वन भूमि का प्रबन्धन समुदायों के साथ मिल कर किया जाए और जहां हो सकें तो गैर-सरकारी संस्थाओं से सहयोग लिया जाए। सरकारी आदेश में, विभिन्न भागीदारों के परस्पर मिलकर काम करने की विधियों के बारे में मार्गदर्शन दिया गया था। “सान्झा वन प्रबन्धन” कहलाने वाली इस प्रणाली में, वन विभाग द्वारा किये जा रहे सत्तावादी वन प्रबन्धन से हटने जैसा परिवर्तन दिखता है। वर्ष 1993 में हिमाचल प्रदेश सरकार ने आदेश जारी किया और सान्झा वन प्रबन्ध को प्रदेश में लागू करने के लिए मार्गदर्शन की अधिसूचना जारी की।

के.एफ.सी.एस. और सान्झा वन प्रबन्ध के लिए सरकार द्वारा जारी आदेश व अधिसूचनाओं के बीच 50 वर्ष का कालान्तर है। दस्तावेजों के अनुसार दोनों योजनाओं के सामाजिक, राजनैतिक व वन-प्रबन्धन उद्देश्यों में भिन्नता दिखाई देती है पर वास्तव में वर्तमान स्थिति के सन्दर्भ में यदि सम्बन्धित विषयों का परीक्षण किया जाए तो लगता है कि समानताओं की तुलना में भिन्नताएं कम प्रभावशाली हैं। वन विभाग व अन्य प्रबन्धकीय दावेदार संस्थाओं द्वारा अपनाई

गई सोच की तुलना से कुछ ऐसे सबक व अन्तर्दृष्टि मिलते हैं, जिससे सान्झा वन प्रबन्धन के हिमाचल प्रदेश में सफलता से क्रियान्वित करने में सहायता मिल सकती है। तुलना से संकेत मिलते हैं कि 1993 का सान्झा वन प्रबन्ध सम्बन्धी आदेश कुल मिला कर “नई बोटल में पुरानी शराब” जैसा है। किन्तु इसका सकारात्मक पहलु यह है कि आदेश में भागीदारी व लाभों के समान वितरण सुनिश्चित करने का प्रावधान है। व्यवहार में सान्झा वन प्रबन्धन के लिए मार्ग दर्शन प्रभावी ढंग से सरकारी वन मण्डलों को नहीं भेजा गया। वर्ष 2001 तक 1,20,000 टीकों वाले 20,000 गांवों में से मान 1000 गांवों में ही गांव वन विकास समितियां बनाई गई हैं। किस सीमा तक इन समितियों का व्यवहार भागीदारी पूर्ण रहा यह भी सन्देहास्पद है, क्योंकि सान्झा वन योजना को वन विभाग द्वारा आरम्भ करवाने से पहले वन विभाग के कर्मचारियों को इसके विषय में सघन प्रशिक्षण नहीं दिया गया। उनका व्यवहार सामाजिक वानिकी में जैसा रहा वैसा ही सत्तावादी और सहभागिता विहीन चल रहा है।

इण्डो जर्मन चंगर परियोजना व हिमाचल प्रदेश वानिकी परियोजना

एक अधिक विस्तृत संयुक्त सहभागी वन प्रबन्धन पद्धति का प्रयोग दो द्विपक्षीय परियोजनाओं में किया जा रहा है। यद्यपि दोनों परियोजनाएं 1990-2000 के दशक के आरम्भ से चल रही हैं, पर यह प्रयोग अग्रगामी क्षेत्रों तक ही सीमित रहा। यह सोच नीचे से ऊपर की ओर की जाने वाली सहभागी योजना प्रक्रिया विकसित करने पर बल देती है। इसका बल उपभोक्ता समुदायों पर था न कि व्यक्तियों पर। इस बात पर भी जोर डाला गया था कि वन विभाग के भीतर ही इतनी क्षमता पैदा की जाए कि वह अपने कर्मचारियों को व्यवहारिक सम्पर्क साधने व सहायता पहुंचाने की कला में प्रशिक्षण दे सकें। इण्डो जर्मन चंगर परियोजना वर्ष 1993 में जर्मन-तकनीकी सहयोग से, 15 वर्ष की, योजनाबद्ध क्रियान्वयन अवधि के लिए आरम्भ की गई। इसके अन्तर्गत कांगड़ा जिला का 400 वर्ग किलोमीटर से कुछ अधिक क्षेत्र आता है। इस क्षेत्र में 570 गांव हैं। यह एक एकीकृत-विकास परियोजना है वानिकी जिसका एक घटक है। बल, गांव की स्वयं सहायक संस्थाओं के सशक्तिकरण पर दिया गया है। जो बाद में सहभागी, एकीकृत भूमि उपयोग योजना बनाने में सहायक होंगी।

हिमाचल प्रदेश वानिकी परियोजना (एच.पी.एफ.पी.) के लिए 'यू.के. डिपार्टमेंट फॉर इन्टरनेशनल डिवेलपमेंट' द्वारा निधि उपलब्ध कराई गई है। इसे 1994 में कुल्लू और मण्डी जिलों में चलाया गया और अभी 2002 में भी यह चालू है। परियोजना का ध्यान प्रक्रिया के दौरान सीखने और मॉनिटर करने पर है। इसका उद्देश्य था वन विभाग की सामान्य कार्यशैली में लोगों की सहभागिता सुनिश्चित करना और जोर इस बात पर डाला गया है कि वन विभाग के कर्मियों के सभी स्तरों पर रुझान बदले जाएं। 50 वर्ष पूर्व के.एफ.सी.एस. के गठन के समय अपनाई गई कार्य विधि से यदि तुलना की जाए तो इस परियोजना का कार्य-प्रकार धीमा और सतर्कता पूर्ण है।

परियोजना के प्रभाव का मूल्यांकन करने के लिए किए गए अध्ययन से परियोजना के पहले चरण में की गई उपलब्धियों पर चिन्ता के संकेत मिलते हैं। समुदायों के साथ कार्य करने की प्रक्रिया लम्बी और मंहगी साबित हुई। जो समूह गठित किए गए इतने बड़े थे और ठीक प्रतिनिधित्व न कर पाने वाले थे जिससे-निर्धन लोगों की प्राथमिकताओं और आवश्यकताओं का सूक्ष्म-कार्य योजनाओं की गतिविधियों में आभास नहीं मिलता। सूक्ष्म योजनाएं भी वन क्षेत्रों के बन्द करने और पुनःवनरोपण करने के प्रति ही ज्यादा रुझान रखती थी। लघु कार्य योजनाओं के कोष में वैतनिक मजदूरी के अवसरों का प्रभावपूर्ण प्रावधान था। ऐसा, रकबा बन्दी से घास, ईंधन व चारा से होने वाले लाभ में कमी की भरपाई के रूप में किया गया था। वन विभाग के कर्मचारी वर्ग को कार्यविधि और सुग्राही बनने में पर्याप्त प्रशिक्षण होने के बावजूद, वन-मण्डल-अधिकारी और अरण्यपाल, सहभागी-वन-प्रबन्ध के पक्ष में बदले हुए प्रतीत नहीं होते थे। यद्यपि निचले स्तर पर कार्य करने वाले कर्मचारी सहभागी-वन-प्रबन्ध को काफी लाभदायक पाकर इसके प्रति सिद्धान्त रूप से प्रतिबद्ध हैं। इसके दूसरे चरण में जोर टिकाऊ आजीविका की ओर मुड़ गया क्योंकि यह समुदायों और वन विभाग के लिए मिलकर लम्बे समय में सहभागी वन प्रबन्ध की जिम्मेवारी उठाने के लिए सशक्त कारण है।

कुल मिलाकर इन दोनों परियोजनाओं में वन विभाग का जोर उदाहरण एकत्र करने और अनुभव प्राप्त करने पर रहा। लगभग दस वर्ष के उपरान्त, लेखक की राय में, संयुक्त सहभागी वन प्रबन्ध (जे.पी.एफ.एम.) वन विभाग का

एक और मरू उद्यान प्रयोग बन कर रह गया है । जबकि मुख्यधारा की सरकारी नीतियां और रूझान अपरिवर्तित ही हैं ।

सान्झी वन योजना

सान्झी वन योजना, जे.एफ.एम. की तरह सहभागी वन प्रबन्ध की दिशा में किया गया एक अन्य प्रयोग है किन्तु इसके लिए वित्तीय प्रावधान सरकारी बजट में किया गया है । यह 1998 व 1999 के बीच 10 करोड़ रुपये के आरम्भिक वित्तीय प्रावधान के साथ संचालित की गई । यह योजना, ग्राम पंचायत (एक ग्राम स्तरीय स्थानीय स्वशासन के लिए निर्वाचित संस्था) को उन सामाजिक संस्थाओं की सूची में सम्मिलित मानती है, जिन्हें योजना की गतिविधियों से जोड़ा जा सकता है । इस योजना का लक्ष्य था, नष्ट प्रायः वनों को पुनर्जीवित करना और वनों से सम्बन्ध न रखने वाली सामाजिक सम्पदाओं को बढ़ाना (कुल बजट का 25 प्रतिशत) यद्यपि यह दोनों पारस्परिक तौर पर मेल नहीं खाते । योजना इस बात का भी विश्वास दिलाती है कि जो गांव स्तरीय वन विकास समितियां (वी.एफ.डी.सी.) गठित की जाएंगी उन्हें वन मण्डल अधिकारी, कल्याणकारी सभा अर्थात् गैर सरकारी संस्था के रूप में सभा अधिनियम 1860 के अन्तर्गत पंजीकृत करेगा । एक और कदम आगे उठाते हुए समिति की अनुमोदित कार्य योजना के क्रियान्वयन के लिए सहायक अनुदान राशि वी.एफ.डी.सी. के अधिकारिक संयुक्त बैंक खाते में चैक द्वारा डाले जाने का प्रावधान किया है । अन्तिम फसल तैयार हो जाने पर उपभोग्य उत्पादों की हिस्सा बांट का नमूना भी नया है । योजना के अनुसार सरकारी भूमि पर खड़े पेड़ों की बिक्री राशि निम्न प्रकार से बांटी जाएगी ।

- 25 प्रतिशत वी.एफ.डी.एस. की कार्यकारिणी को सदस्यों में बांटने के लिए ।
- 25 प्रतिशत वी.एफ.डी.एस. और ग्राम विकास निधि के संयुक्त खाते में जमा करने के लिए ।
- 10 प्रतिशत ग्राम पंचायत को जिसके क्षेत्र में वी.एफ.डी.एस. पड़ती है ।
- 40 प्रतिशत सरकारी कोष में ।

व्यवहार में सान्झी वन योजना भी, हिमाचल वानिकी परियोजना के जे. एफ.एम. की कमियों से ग्रस्त है । जिनमें वन रक्षक का वी.एफ.डी.एस. का अपने पद के कारण सचिव बनाया जाना भी शामिल है । ऐसा लगता है यह योजना भी अपने पहले पांच साला कार्ययोजना काल चक्र के उपरान्त व्यवहारिक नहीं रहेगी । सहभागी वन प्रबन्ध सारे प्रदेश के 400 गांवों में आरम्भ किया गया । क्रियान्वयन के तीसरे वर्ष में ही वित्तीय कमी के कारण यह कार्यक्रम दलदल में फंस गया है ।

चालू योजनाएं और गतिविधियां

सहभागी वन प्रबन्धन नियमों का प्रारूप

1993 के सरकारी आदेश के बदले लाये जाने वाले नये सरकारी आदेश का प्रारूप और विस्तृत सहभागी वन प्रबन्धन नियम दोनों का सरकार द्वारा अनुमोदन किया जाना अभी बाकी है । प्रारूप में, वी.एफ.डी.एस. की संस्थागत स्वायत्तता को, उन्हें पंजीकृत करके व उनके प्रधानों को वन-अपराधों को निपटाने के लिए वन अधिकारी की शक्तियां देकर, बढ़ाने का प्रावधान है । फिर भी अभी उसमें काफी कमियां दिखती हैं । वी.एफ.डी.एस. से वन विभाग की ओर से आरक्षी का कार्य करने की आशा प्राथमिक तौर पर की जाती है । नियमों में सुझाव है, कि सम सामयिक सूक्ष्म कार्ययोजना इसकी कमियों के बावजूद जारी रखी जाए । वार्षिक क्रियान्वयन योजना प्रपत्र जो नियमों के साथ जुड़े हैं, उनका आशय है कि सूक्ष्म कार्य योजनाएं हिमाचल प्रदेश वानिकी परियोजना (एच.पी.एफ.पी.) की तुलना में कहीं अधिक वनरोपण स्थलों और बन्द रकबों का रूप धारण कर लेगी । जबकि मौजूदा वन भूमि पर विविध जीविका निर्भरताओं को सूक्ष्म योजनाओं की प्रक्रिया में एकीकृत करने की गुंजाइश लगभग शून्य होगी । लघु कार्य योजना प्रपत्रों में घास वाली भूमि व चरागाह विकास का जिक्र तक नहीं है ।

परिशिष्ट 3 में नियमों के प्रारूप की कुछ मुख्य विशेषताओं की के.एफ. सी.एस. के विशेष लक्षणों से संक्षिप्त तुलना दी गई है ।

1993 वाले सरकारी आदेश से लिया गया प्रावधान, कि फसल की अन्तिम वसूली के समय (कम से कम 20 वर्ष के काल चक्र के बाद) कुल आय में से 50 प्रतिशत वी.एफ.डी.एस. के साथ बांटना अधिक समस्या पूर्ण है। जीविका केन्द्रित सहभागी वन प्रबन्धन के लिए यह अनुपयुक्त प्रोत्साहन है, विशेषकर हिमाचल प्रदेश में जहां बहुत से वी.एफ.डी.एस. के सदस्यों को कानूनी तौर पर इमारती लकड़ी वितरण (टी.डी.) अधिकार प्राप्त हैं। वे इमारती लकड़ी की फसल वसूली से प्राप्त आय में सरकार के साथ या अधिकार रहित निवासियों से हिस्सादारी करने को इच्छुक नहीं। हिमाचल प्रदेश में सहभागी वन प्रबन्धन को टिकाऊ बनाने के लिए, सोच का केन्द्र बिन्दु मौजूदा सोच से हट कर सहभागी संसाधन प्रबन्ध हो जाए तो यह सबसे बड़ा प्रोत्साहन होगा। इससे, अति-संसाधनहीन आदमियों और औरतों की ओर विविध लाभों का निरन्तर बहाव, उनके कानूनी अधिकारों की अपेक्षा के बिना, बढ़ाने के लिए ठीक साधन चुनने के प्रावधान से, और प्रबन्ध अधिकार वी.एफ.डी.एस. को दिए जाने से जीविका उपार्जन की स्थिति सुधरेगी।

कुटुम्बों की जगह प्रारूपित नियमों द्वारा सभी प्रौढ़ व्यक्तियों को सदस्यता का द्वार खोल कर और इस तरह बड़े बड़े कुटुम्बों के सभी प्रौढ़ लोगों को स्वतन्त्र सदस्यता का अधिकारी बनाकर अधिक से अधिक व्यक्तियों को सम्मिलित करने की क्षमता बढ़ी है। विडम्बना यह है कि मौजूदा 1993 के आदेश में वी.एफ.डी.एस. की कार्यकारिणी में महिला सदस्यों की संख्या 50 प्रतिशत होने का प्रावधान है किन्तु नये प्रारूपित नियमों में यह घटाकर 33 प्रतिशत दी गई है।

इस समय तो बर्तनदारों को भी अधिकार नहीं कि वे अपने संयुक्त वन प्रबन्ध (जे.एफ.एम.) क्षेत्रों में से घास और ईंधन जैसे फालतू उत्पादों को बेच सकें क्योंकि अधिकार सिर्फ घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही दिए गए हैं।

यह पुरानी वी.एफ.डी.एस. को सामान्य निधि खड़ा करने में सबसे बड़ी रुकावट बन गई है। सहभागी वन प्रबन्ध नियमों में साफ तौर पर उन्हें ऐसे साधनों से आय बढ़ाने का अधिकार दिए जाने का प्रावधान होना चाहिए।

समता वादी और सहभागी वन प्रबन्ध का दीर्घकालिक लक्ष्य, व्यक्तिगत अधिकारों को सामुदायिक अधिकारों में बदलने का होना चाहिए । इससे शताब्दियों पहले हुए बन्दोवस्त द्वारा किए गए तोड़-मरोड़ को बेअसर करने, और आवश्यकता पर आधारित शुद्ध सामुदायिक संसाधन प्रबन्ध स्थापित करने में सहायता मिलेगी । यह वांछित है कि, गांव की उन सामुदायिक भूमियों को, जो परम्परा से पशुधन के चराने के काम आती थी (अब कानूनी तौर पर वन अधिसूचित की गई है) भारतीय वन अधिनियम की धारा 28 के अन्तर्गत, उत्तर प्रदेश की वन पंचायतों की तर्ज पर ग्रामीण वन घोषित करने के विचार की छानबीन की जाए । ऐसा करने से उनके नियन्त्रण को वापिस संसाधन उपभोक्ताओं को, दिये जाने के लिए वैधानिक ढांचा उपलब्ध हो जाएगा ।

प्रारूपित नियमों में मुख्य कमी यह है कि इनमें वी.एफ.डी.एस. का, वन विभाग से विवाद होने की सूरत में सहभागी वन प्रबन्ध में आए वनों को धारण करने की अवधि की निश्चितता प्रदान नहीं की गई । विवादों का समाधान वन विभाग की संरचना के अन्तर्गत किया जाता है और वह भी अनुबन्ध के एक पक्ष को अन्तिम निर्णायक बनाकर । हिमाचल प्रदेश के सन्दर्भ में वी.एफ.डी.एस. के लिए वन भूमियों को धारण करने की अवधि की गारंटी एक समस्या बनी रहेगी क्योंकि श्रेणी तृतीय के असीमाङ्कित संरक्षित किस्म की वन भूमि पर वन विभाग का भी क्षेत्राधिकार स्पष्ट नहीं है और यह राजस्व विभाग और वन विभाग के बीच विवाद का विषय बना हुआ है । प्रारूपित नियमों का मानना है कि वन विभाग सहभागी वन प्रबन्धन के लिए असीमाङ्कित संरक्षित वनों और अन्य सरकारी भूमियों जिन पर उसका क्षेत्राधिकार नहीं भी है, सम्बन्धी अनुबन्ध करने के लिए अधिकृत है । पर यह विसंगति आगे चलकर समस्या जनक सिद्ध हो सकती है ।

वी.एफ.डी.एस. गठित करने की विचाराधीन प्रक्रिया इतनी शीघ्रगामी है कि वनों पर आश्रित निर्धन महिलाओं व पुरुषों की जागरूक भागीदारी सुनिश्चित करने के लिए तन्त्रों का अभाव है । ऐसी स्थिति में गांव के बड़े लोगों द्वारा वी.एफ.डी.एस. हथियाए जाने की सम्भावना है जैसाकि बहुत सी वी.एफ.डी.एस. के गठन के समय हुआ है ।

वन-प्रभाग का पुनर्वलोकन

हिमाचल प्रदेश के वन विभाग ने वर्ष 1999-2000 में वन प्रभाग का व्यापक पुनर्वलोकन किया। इस पुनर्वलोकन का लक्ष्य था, मौलिक जानकारी उपलब्ध कराना और सर्वसम्मति पैदा करना जिसके आधार पर विभाग की रचना की जानी है; ताकि वे, सामाजिक व आर्थिक विकास से वन प्रभाग की नीतियों को जोड़ते हुए, वन प्रबन्ध के दावेदारों की आवश्यकताएं पूरी कर सकें और वन-संसाधनों का टिकाऊ प्रबन्धन कर पाएं। वन प्रभाग के पुनर्वलोकन का विश्लेषण और इस पर परिचर्चा से सम्बन्धित विषयों के तीन समूह उजागर होते हैं।

- जीविका की आवश्यकताओं के लिए वन प्रबन्ध में भागीदारी,
- वन प्रबन्ध में सुधार लाकर उपलब्ध वस्तुओं और सेवाओं की वृद्धि और
- उपरोक्त को पाने के लिए, अभिशासन, कानून और नीति में सामंजस्य।

टिकाऊ वन प्रबन्ध की दिशा में आधारभूत नीतियों और कार्यक्रमों को परिभाषित करने के लिए उक्त वन प्रभाग पर्यवलोकन द्वारा चार मूल सिद्धान्तों की पहचान की गई है।

विविध वन मूल्य ऊर्जा, खाद्यान्न और रेशा से लेकर, सांस्कृतिक मूल्यों और पर्यावरण सेवाओं तक बहुत से वन मूल्यों, जो स्थानीय जीविका और आर्थिक विकास का सम्पोषण (बनाए रखने में सहायता) करने में सहायक हैं, उनको मान्यता प्रदान करनी चाहिए ताकि विभिन्न दावेदारों को निरन्तर लाभ मिलते रहें।

विविध वन दावेदार वनों की देखभाल के लिए नियुक्त सरकारी संस्थाओं के माध्यम से अपनी जीविका के लिए वनों पर आश्रितों से लेकर राष्ट्रीय व अन्तराष्ट्रीय दावेदारों तक, वनों से जुड़े दावेदारों को मान्यता दी जानी चाहिए। उनके लिए जानकारी और निर्णय लेने की प्रक्रिया तक पहुंच सुनिश्चित करने और वन उपयोग में लाभ कमाने व लागत वहन करने में हिस्सेदारी पर बल देने के लिए अच्छी नीतियां व कार्यक्रम बनाने चाहिए।

बदलते हालात क्योंकि हिमाचल में और बाहर भी आर्थिक, पर्यावरणीय, सामाजिक व संस्थागत हालात तेजी से बदल रहे हैं अतः नीतियां और कार्यक्रम ऐसे होने चाहिए कि वे नियमित पुनर्वलोकन और हालात के अनुसार बदलाव के योग्य हों । उनमें एक सतर्क सोच भी शामिल हो जिससे महत्वपूर्ण वन सम्पदा का संरक्षण सम्भव हो ।

एस.एफ.एम. (टिकाऊ वन प्रबंध) की ओर बदलाव के लिए एक अगुवाई-संस्था समन्वय के लिए आवश्यक यह इसलिए आवश्यक है कि हर एक दावेदार टिकाऊ वन



मि. बासुदेव, मनिआ के आसपास के तिन के.एफ.सि.एस. के गार्ड

प्रबन्ध की ओर हो रहे बदलाव के लिए, मान्य अधिकृत विभाग होने के नाते, वन विभाग से समन्वय की भूमिका निभाने की आशा करता है अतः उसे इसके लिए उपयुक्त सहारा देना जरूरी है । एक ऐसी नियमित, समतावादी, सहभागी पद्धति भी आवश्यक है, जिसके माध्यम से दावेदार स्वतः मिल सकें, महत्वपूर्ण योजना विषयक मामलों पर चर्चा कर सकें, वैकल्पिक समाधान निकाल सकें और वन विभाग द्वारा दी गई मदद से भागीदारियां बना सकें । अततः इन सिद्धान्तों का आशय है वन दावेदारों की वास्तविक और सबको स्वीकार्य भूमिकाओं का नये सिरे से मोल-तोल करना । पहले से एक मान्य आवश्यकता होते हुए भी यह तब तक नहीं हो सकता जब तक एस.एफ.एम. के बारे में सहभागी नीति प्रक्रिया के आधार पर सान्झी सोच न बने ।

सम्भवत यह नये सिरे से किया गया मोल-तोल आने वाले वर्षों में महत्वपूर्ण संस्थागत परिवर्तन के आरम्भ का उद्घोष होगा, एवं वन प्रभाग

पुनर्वलोकन का मुख्य परिणाम भी । वानिकी के विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया, स्थानीय जटिलताओं से निबटने के लिए जरूरी है । परन्तु यथेष्ट केन्द्रीयकरण भी, प्रदेश के अन्दर व बाहर-नीति सामंजस्य के लिए वांछित है ।

वन प्रभाग पुनर्वलोकन ने उन बहुत से तत्वों को मान्यता दी है जो पी. एफ.एम. या सामान्य वन प्रबन्ध को राज्य और शामिल समुदायों के लिए टिकाऊ और लाभदायक विकल्प बनाने में सहायक हो सकते हैं । यह इस सच्चाई को भी उजागर करता है कि यह तभी हो सकता है यदि वन विभाग के भीतर ही नीति और संस्थागत बदलाव आ जाए परन्तु इसमें इस बात का जिक्र नहीं है कि कौन से तत्व हैं जो ऐसे बदलाव को लाने के लिए जिम्मेदार हो सकते हैं ।

के.एफ.सी.एस. का भविष्य

20 मार्च 2000 को हि.प्र. सहकारी सभा विकास संघ ने धर्मशाला में एक दिवसीय परिसंवाद गोष्ठी का आयोजन किया, जिसमें चर्चा का विषय था “वन सहकारी सभाओं के सामने चुनौतियां व समस्याएं” इसकी अध्यक्षता माननीय सहकारिता मन्त्री हि.प्र. श्री रिखी राम कौण्डल ने की, गोष्ठी में वन विभाग का प्रतिनिधित्व अरण्यपाल कांगड़ा ने और सहकारिता विभाग का प्रतिनिधित्व सहायक पंजीकार कांगड़ा ने किया । सारे जिला से आए के.एफ.सी.एस. के बहुत से प्रतिनिधियों ने भी इसमें भाग लिया । गोष्ठी की समाप्ति तक यह सर्व सम्मति बन चुकी थी कि के.एफ.सी.एस. के साथ बुरा व्यवहार किया गया था । सहकारिता विभाग ने माना कि वह के.एफ.सी.एस. के लिए संघर्ष करने में अयोग्य रहा । अतः अतिरिक्त पंजीकार (सहकारिता विभाग) की अध्यक्षता में, के.एफ.सी.एस. को पुनर्जीवित करने के विषय पर चर्चा करने के लिए एक समिति का गठन किया गया ।

वन विभाग ने यह माना कि के.एफ.सी.एस. सहभागी वन प्रबन्ध संस्थाएं ही हैं और अपनी वर्तमान क्षमता के बूते पर जिले के 9 प्रतिशत वन क्षेत्र अथवा भूमि का प्रबन्ध कर रही हैं और यह भी माना कि सहभागी वन प्रबन्ध योजनाओं में मामूली परिवर्तन करके, वे अपनी भूमिका निभाना जारी रख सकती थी ।

के.एफ.सी.एस. ने माना कि उनके उप नियम पुराने समय से चले आ रहे हैं और उनमें समानता, लिंग सम्बन्धी चिन्ताओं और विस्तृत सदस्यता जैसे तत्वों को शामिल करना आवश्यक है । और वे यह परिवर्तन तत्काल करने के लिए मान गए कुछ आवश्यक परिवर्तन निम्नलिखित हैं ।

वन क्षेत्रों का युक्ति सम्मत पुनर्गठन पिछले पचास वर्षों में हुई जनसंख्या वृद्धि व संचलन से के.एफ.सी.एस. के अन्तर्गत आने वाले वनों पर दबाव बढ़ा है । जो सभाएं पहले दो या तीन टीकों तक सीमित थी उनके अन्तर्गत अब 10 से 15 गांव आते हैं । उनके क्षेत्र काफी बड़े और प्रबन्ध के लिए कठिन हैं ।

खुली सदस्यता सदस्यता केवल अधिकार स्वामियों तक सीमित न रखते हुए सभी वन उपभोक्ताओं के लिए खुला रखना । उप-नियमों में विशेष प्रावधान के द्वारा महिलाओं को जोड़ने का प्रयास ।

पारदर्शिता प्रबन्ध समितियों के केन्द्रीकरण और आम सदस्य की सहभागिता न होने के कारण सभाएं पारदर्शिता-विहीन हो गई हैं, जिसका सुधार जरूरी है ।

वनों पर कानूनी नियन्त्रण यदि इन वन सभाओं को प्रभावकारी ढंग से अपने वनों का प्रबन्ध करना है तो दीर्घकालिक व कानूनी तौर पर स्पष्ट भूमिधारण करने की पद्धति की आवश्यकता है जिसमें उनकी दावेदारी भी सुनिश्चित हो ।

के.एफ.सी.एस. की भूमिका पंचायतों की तुलना में :-

इस पर विचार करना आवश्यक है कि यह वन सहकारी सभाएं विकेन्द्रीकृत अभिशासन की इकाई पंचायत से कैसे तालमेल बिठाएंगी और लाभान्वित होंगी । जबकि 'वन आधारित उपभोक्ता समूह-वानिकी' की अपनी शक्ति है, पंचायतों के समन्वय और मदद से यह और शक्तिशाली बनेंगी । सहभागी वन प्रबन्ध का हिमाचल प्रदेश में औचित्य तभी सिद्ध होगा जब वन सहकारी सभाओं को पुनर्जीवित किया जाएगा । वास्तविक सहभागी वन प्रबन्ध, सभी लाभों समेत तभी अस्तित्व में आएगा जब निम्नलिखित सिद्धान्तों का प्रतिपादन हो जाए ।

हिमाचल में सहभागी वन प्रबन्ध के इतिहास से सबक

सामान्य विषय-वस्तु

तकनीकी तौर पर हिमाचल प्रदेश में 37,600 वर्ग कि.मी. सरकारी वन क्षेत्र (कुल भौगोलिक क्षेत्र का 67 प्रतिशत जिसमें एक तिहाई ही वास्तविक तौर पर वनों तले हैं) के प्रबन्ध का भार लगभग 4400 विभिन्न स्तरों के वन कर्मियों पर है। वास्तव में गांव समुदायों (जो हि.प्र. की कुल 55,00,000 जनसंख्या का 91 प्रतिशत हैं) के दैनिक कामकाज का वनों के उपभोग पर राज्य में विशेष प्रभाव पड़ता है। वन, कृषि प्रणालियों जिनमें उद्यान विकास, पशुधन प्रबन्ध सम्मिलित हैं, का अनिवार्य अंग हैं। वे गांव समुदायों को ईंधन की लकड़ी, कृषि औजारों के लिए लकड़ी, चारा, जैव खाद, इमारती लकड़ी, खूंटे व बाड़ लगाने के लिए सामान व भोजन मुहैया कराते हैं। अध्ययनों से पता चलता है कि वन, मूल्य के हिसाब से क्रमशः 19 प्रतिशत, 20 प्रतिशत और 26 प्रतिशत अन्न, फल व सब्जियां उपलब्ध कराते हैं। (गुलाटी 1996) इसके अतिरिक्त वे पशुपालन की जरूरतों के लिए 49 प्रतिशत व ग्रामीण जनता के लिए 90 प्रतिशत घरेलु ऊर्जा का योगदान देते हैं। वन विभाग के आंकलन के अनुसार हिमाचल प्रदेश के वनों से ठोस उत्पादों के प्रतिवर्ष निष्कासन का मूल्य 10 अरब रुपये ठहरता है।

सहभागी वन प्रबन्ध के लिए किए गए के.एफ.सी.एस. (1940) से लेकर हाल की योजनाओं तक सारे पूर्व प्रयासों में कुछ सांझी विषय वस्तु हैं यह सान्झी विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

- सहभागी वन प्रबन्ध के लिए प्रयास एक अस्थायी योजना या एक समयबद्ध परियोजना के रूप में होते हैं।
- नष्ट प्रायः वनों के संरक्षण व प्रबन्ध के लिए, वनरोपण व रकबे बन्द करने के समान सुझाव के साथ वन विभाग गांव समुदायों को अल्पकालिक ग्रामीण संस्थाएं बनाने की आज्ञा देता है।
- गैर वन आधारित सम्पदा खड़ा करने (यथा-कुएं, पैदल मार्ग) और आरम्भ के 2 या 3 वर्षों के लिए वन रोपण के कार्य करने में अन्तर्निहित मजदूरी के

अवसर मिलना एक मुख्य लाभ है । इस समय के दौरान बन्द किए गए रकबों में काफी सुधार दिखाई देता है और घास के रूप में लाभ भी होता है । परन्तु रोपित पेड़ों को 8 से 10 वर्षों का समय विकसित होने के लिए चाहिए । पास के सीमाङ्कित संरक्षित वनों पर दबाव, गैर वन सम्पदा खड़ा करने और मजदूरी उपलब्ध कराने से अस्थायी तौर पर कम किया जाता है ।

- सांझेपन की परिभाषा बड़ी स्पष्ट है : गांव की समितियां (बी.डी.सी. वी. एफ.डी.सी., गांव परिस्थितिकी विकास समिति) वन विभाग से अति महत्वपूर्ण, (संरक्षण) की भूमिका अपने हाथ में ले लेती है । अवैध कब्जे हटाना, खुले तौर पर प्रयोग में आने वाला और विवादित चरानों को बन्द करना, घास व तराशी हुई शाखाओं का वितरण, झगड़ों का निपटारा करना और अन्य अनिवार्य काम भी ये समितियां ले लेती हैं । तथापि इन संस्थाओं को कानूनी मान्यता, उनका प्रबन्धित भूमियों पर नियन्त्रण, अपराधियों को जुर्माना करने की शक्ति, वनों का प्रबन्ध करने व मुख्य दीर्घकालिक लाभों पर (इमारती लकड़ी, बिरोजा, खैर और अन्य बहुमूल्य उत्पाद) वन विभाग का नियन्त्रण है ।

आज दिन तक मुख्यधारा वन प्रबन्ध प्रणाली वन भूमि को राज्य की सम्पत्ति के रूप में परिभाषित करती है । वन विभाग हिमाचल प्रदेश के 66 प्रतिशत भौगोलिक क्षेत्र का भू-स्वामी है ।

दूसरी ओर गांव समुदाय वनों को केवल दोहन किए जाने वाला संसाधन मात्र नहीं मानते, वे इसे उनके जीविका व अस्तित्व का सार तत्व मानते हैं । इस बात पर, सदियों पुरानी सामुदायिक वन प्रबन्ध व उपभोग की पारम्परिक प्रणालियों द्वारा बल दिया गया है, जो पहुंच और निकासी के पारम्परिक मान्यता प्राप्त अधिकारों पर आधारित हैं । जिनका प्रत्येक समुदाय के उपभोग समूह सम्मान करते और स्वीकारते हैं ।

इन प्रणालियों का, जिनपर सही वन प्रबन्ध वास्तव में आधारित किया जा सकता है, वन विभाग के कार्य योजना दस्तावेजों में या दूसरे योजना और क्रियान्वयन रचना तन्त्रों में जिक्र नहीं है । बहुत से वन रक्षक मानते हैं कि

जब उनका नये कार्यक्षेत्र में स्थानान्तरण होता है, तो गांव समुदाय ही उन्हें उनके नियन्त्रण के अधीन वन भूमियों की स्थिति और सीमा स्तम्भों के बारे में जानकारी देते हैं। वास्तव में उनके कार्यक्षेत्र बहुत बड़े होने की सूरत में, वनों में अवैध कटान व लकड़ी की तस्करी की सूचना भी उन्हें वन उपभोक्ताओं से ही मिलती है।

सहभागी वन प्रबन्ध का प्रयोग करने के पीछे आशय था, एक नया रास्ता विकसित करना जिसपर वानिकी विकसित हो सके, परन्तु दुःखद बात यह है कि यह घने जंगल में एक संकरा पैदल रास्ता बन के रह गया। हिमाचल प्रदेश का वन विभाग आजकल, सहभागी वन प्रबन्ध को, विदेशी दान राशियां आकर्षित करने के लिए एवं कुछ ग्राम समुदायों में, वन सम्पदा से बरतर्फ करने और वनों तक पहुंच व नियन्त्रण के अभाव में संचित आक्रोश से राहत दिलाने के लिए साधन के रूप में प्रयोग में लाता है। दुर्भाग्यवश वन विभाग को पी.एफ.एम. के प्रयोग से सीख सबक वानिकी प्रबन्ध प्रणाली में शामिल करना व्यवहारिक नहीं लगता।

वन विभाग और हिमाचल प्रदेश के लोगों का हित चाहने वाले अथवा प्रदेश के वनों के भविष्य से चिन्तित लोगों के लिए विचारणीय प्रश्न :-

- हिमाचल प्रदेश में टिकाऊ वन प्रबन्ध के भविष्य के लिए इन अगुआ प्रयोगों से क्या सबक और अनुभव प्राप्त होते हैं ?
- के.एफ.सी.एस. का अपना भविष्य क्या है ?

हिमाचल प्रदेश में टिकाऊ वन प्रबन्ध के भविष्य के लिए सबक

टिकाऊ वन प्रबन्ध को सफल बनाने के लिए मौजूदा सहभागी वन प्रबन्ध के प्रयासों से बढ़ कर कुछ करने की जरूरत है और कुछ मौलिक परिवर्तन वांछनीय हैं।

सहभागी वन प्रबन्ध को मुख्यधारा में लाना

के.एफ.सी.एस. योजना को पुनः अधिसूचित करने से चूकने और संयुक्त वन प्रबन्ध और सान्झी वन योजना से प्राप्त अनुभवों से लगता है कि वन विभाग इन योजनाओं के क्रियान्वयन को मात्र ऐसे प्रयोगों और प्रयासों के रूप

में देखता है कि यह बताया जा सके कि सहभागी वन प्रबन्ध सम्भव है । इन सब आरम्भिक प्रयोगों से प्रतीत होता है कि यह अभी तक वन विभाग के मुख्यधारा वन प्रबन्ध के हाशिए पर किए गए प्रयास हैं और इसमें न कोई अन्तर्निहित टिकाऊपन भी है । सहभागी वन प्रबन्ध को अब मुख्यधारा वन प्रबन्ध का स्थान देना चाहिए न कि एक अलग से किए गए प्रयोग की स्थिति में इसे बनाए रखना । सहभागी वन प्रबन्ध ऐसा होना चाहिए जिससे घनी जनसंख्या और वन दोनों, के अन्तरप्रभावों को दृष्टि में रखते हुए वन भूमियों का प्रबन्ध किया जा सके । वन विभाग को गांव समुदायों को, पी.एफ.एम. नियमों और वन अधिनियम से प्राप्त शक्तियों से लैस, प्रबन्धकों के रूप में देखना चाहिए । पी.एफ.एम. को ऐसी वन प्रबन्ध प्रणाली का रूप लेना चाहिए, जिसके अन्तर्गत विवर्णित वन क्षेत्र लम्बे समय के पट्टों पर समुदायों को हस्तांतरित किए जाएं और उसकी कार्य योजनाओं में वन प्रबन्ध की अवस्थाओं का स्पष्ट वर्णन हो ।

वन भूमि के उपयोग में परिवर्तन

हिमाचल प्रदेश में सिद्धान्त रूप से वन विभाग पेड़ उगाने को वन भूमियों का सर्वोत्तम उपयोग मानता है। तथापि इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि “वन भूमि की आधुनिकतम कानूनी परिभाषा परिस्थितिकी” को आधार मानती है और उसके अनुसार वन भूमि में वनरोपण अनिवार्य रूप से करने की बात नहीं की गई है । वन विभाग के आंकड़ों के अनुसार (भले ही इनका जिक्र राजस्व विभाग के अभिलेखों में नहीं है) 37,600 वर्ग किलोमीटर कानूनी तौर पर वन के रूप में वर्गीकृत है और यह राज्य के कुल भौगोलिक क्षेत्र का 67 प्रतिशत बैठता है । इसमें से 37,000 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र वन विभाग के अधीन है और उसमें में से



मनियारा में उपजाऊ कृषियोग्य भूमि है । मनियारा के.एफ.सी.एस. इस 'कुल' के वार्षिक प्रबन्धन में हाथ बटाती है । जिसकी सिंचाई इस 'कुल' के द्वारा होती है

भी 12,500 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र वास्तव में वनों तले है (वन घनत्व 10 प्रतिशत से कुछ अधिक है) और मात्र 9600 वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में घने वन है (भाटिया 2000) 11,300 वर्ग किलोमीटर वन भूमि पेड़ उगाने योग्य नहीं क्योंकि यह समुद्रतल से 3000 मीटर से 4000 मीटर ऊंचाई वाले क्षेत्र है और या तो यह अल्पाइन चरागाहें हैं या बर्फ से ढके हैं। इसका अर्थ है कि 24,500 वर्ग किलोमीटर वन भूमि ही वन उगाने योग्य है और इसके आधे के बराबर ही वनों तले है। बहुत सी वन भूमि में असीमाङ्कित सरक्षित वन है और वह पारम्परिक सार्वजनिक भूमि है, जिसे सरकार ने 1970-80 के दशक में अधिगृहीत कर लिया। आज भी इनमें बहुत से क्षेत्र ऐसे हैं जिनपर खुले चरान का दबाव है या झाड़ियों से भरी पड़ी चरागाहें हैं। इनमें से बहुत से क्षेत्रों को बन्द करने या उसमें वनरोपण के लिए प्रतिवर्ष प्रयास किया जाता है। पर पेड़ों के जीवित बचे रहने की प्रतिशतता-विहित कारणों से बहुत कम है।

वन विभाग को यह महसूस और स्वीकार करना चाहिए कि पहाड़ों के विभिन्न क्षेत्रों में स्थानीय जीविकोपार्जन के लिए सहायक विविध प्रकार का भूमि उपयोग प्रचलित है। इस विविधतापूर्ण भूमि उपयोग का विनाश किया जा रहा है और संसाधनों पर निर्भर समूहों को एकल प्रजाति वन लगाकर और प्रबन्ध के गलत नुस्खे सुझाकर वनों से बरतरफ किया जा रहा है। पहाड़ों में चरागाहों वृक्ष रहित खुली वन भूमियों और अन्य को पहाड़ी भूमि के कुछ भाग का सदुपयोग मानना चाहिए। कार्ययोजनाओं और वन सुधार के लिए वन वैज्ञानिक नुस्खों इन में विभिन्न प्रबन्ध प्रणालियों को प्रतिबिम्बित करना चाहिए।

वन भूमियों का पुनवर्गीकरण

किस वन के प्रबन्धन एवं उपयोग की प्राथमिक जिम्मेदारी किसकी है, इस आधार पर वनों का पुनः वर्गीकरण करना लाभदायक और आवश्यक भी है। वर्गीकरण के लिए एक सुझाव निम्नलिखित है।

- **सामुदायिक वन:** वह वन जिनका प्रबन्ध स्थानीय आवश्यकताओं की पूर्ति में उपयोग के लिए (तकनीकी, कौशल और सहायता वन विभाग से प्राप्त) सहभागी वन प्रबन्ध के सिद्धान्तों पर पूरे तौर पर समुदायों द्वारा किया जाए। इनकी निम्नलिखित किस्में हो सकती हैं।

(क) **आपूर्ति वन:** जिनका प्रबन्ध ईंधन की लकड़ी, चारा, इमारती लकड़ी व गैर इमारती लकड़ी-वन उत्पाद की आपूर्ति के लिए किया जाए। स्थानीय समुदायों के लिए जीविका के साधनों का विकास, तकनीकी, वित्तीय और विपणन सहायता द्वारा किया जाना चाहिए। इसे सुनिश्चित करने के लिए निकासी, प्रसंस्करण और निर्यात-नियमों में आवश्यक परिवर्तन करना पड़ सकता है।

(ख) **संरक्षण वन:** गांव के आस-पास के वह क्षेत्र जहां प्राथमिक उद्देश्य, भारी भूक्षरण से उन्हें बचाना, जलागम क्षेत्र प्रबन्ध और जैव विविधता का संरक्षण है। लम्बे अरसे के उपरान्त यह सब क्षेत्र वन संसाधन बन जाएंगे।

राज्य वन (सरकारी): मुख्यता यह वन विभाग द्वारा प्रबन्धित वन होंगे। यह क्षेत्र राष्ट्रीय परिस्थितिकी के सुधार में सहायक होंगे-इमारती लकड़ी व उद्योग की आवश्यकताओं की पूर्ति करेंगे। यह निम्नलिखित दो प्रकार के हो सकते हैं:

(क) **आपूर्ति वन:** वन क्षेत्र जिसमें समुदायों द्वारा कम से कम निकासी की जाएगी और इनसे मुख्यता राष्ट्र की इमारती लकड़ी व इमारती लकड़ी के अतिरिक्त वन उत्पाद, की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाएगी।

(ख) **संरक्षण वन:** एल्पाइन क्षेत्र और इर्द-गिर्द के संरक्षित क्षेत्र जहां गांव समुदायों की निर्भरता नाम मात्र हों, और सहभागी संरक्षण प्रबन्ध के द्वारा जैव विविधता के तत्वों को बनाए रखना सुनिश्चित किया जा सके। हिमालय के प्राकृतिक आवासों का परिरक्षण और उसके लाभों, यथा जल और कार्बन स्थिरिकरण का लाभ राष्ट्र को मिलना सुनिश्चित हो सके।

व्यक्तिगत अधिकारों का सामुदायिक अधिकारों में बदलना

व्यक्तिगत अधिकारों को स्पष्ट तौर पर व्यवस्थित करना कठिन होता है, विशेषकर यदि वह व्यवस्थातन्त्र समुदायों पर बाहर से लागू किया जाए। एक महत्वपूर्ण सबक जो के.एफ.सी.एस. के प्रयोग से उभर कर सामने आता है, वह यह है कि यदि वन संसाधन सामुदायिक सम्पत्ति हो और निकासी सामुदायिक अधिकार; और यदि सामुदायिक संस्थाएं समानतावादी हों और वनों पर निर्भर समूहों को सहायक हों; तो (टिकाऊ) निकासी की ओर ले जाने वाली आन्तरिक व्यवस्था सम्भव है। वन विभाग की भूमिका बदल कर बाहर से अनुश्रवण और नेतृत्व प्रदान करने के साथ झगड़े निपटाने की हो जाएगी।

टिकाऊ वन-आधारित जीविकोपार्जन को सशक्त करना

जब तक कि वन छोटी अवधि में लाभ देने न लगें और इस तरह टिकाऊ जीविकोपार्जन के साधनों को सशक्त न कर पाएं - समुदायों की सहभागी वन प्रबन्ध में कोई रूचि नहीं होगी। लोगों को ऐसी गतिविधियों में सम्मिलित करना बहुत कठिन काम है। जो उन प्राकृतिक संसाधनों को, जिनपर गांव समुदाय निर्भर हों, पुनः स्थापित करने और उनमें नया जीवन भरने में सहायक हो। इस कठिन काम का सामना हर संरक्षण-अभिमुख-प्रयास में करना पड़ता है। पिछले कुछ वर्षों में, बहुत से सार्वजनिक सम्पदा-संसाधनों पर निर्भरता और उनमें रूचि भी कम हुई है। सार्वजनिक सम्पदा संसाधनों से जुड़ाव और अन्ततः उन पर सामुदायिक नियन्त्रण को प्रोत्साहित करने के लिए प्रत्येक उपभोक्ता समूह को गतिशील बनाना चाहिए। वास्तविक लाभबन्दी का भी सामान्यतः आर्थिक आयाम होता है, और यह विचाराधीन संसाधन/सम्पदा से होने वाले लाभों में दिखने वाली वृद्धि से प्रेरित होती है। इसलिए इन लाभों को लम्बी और छोटी दोनों अवधियों में सुनिश्चित करना चाहिए। अनिच्छुक-निहित-स्वार्थ समूहों को संसाधन उपयोग प्रक्रियाओं पर पुनः मोल-तोल करने और लम्बी अवधि के निवेश सम्बन्धी झगड़ों के समाधान हेतु प्रेरित करने के लिए सामान्य तौर पर ठोस लघु-अवधि में लाभ होने जरूरी होते हैं।

वन-आधारित जीविकाओं की सोच के द्वारा अपने सभी आरम्भिक प्रयासों में उत्पादन आधारित उपक्रमों के द्वारा बढ़े हुए लघु अवधि लाभों और स्पष्ट नगद आय, चिन्हित दावेदारों को प्रदर्शित करने पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। इससे प्रत्येक दावेदार को सम्बन्धित गतिविधि को आगे बढ़ाने, मतभेद निपटाने और अपने को एक समूह में संगठित करने की रूचि पैदा होगी। एक बार जब समूह टिकाऊ आय किसी संसाधन विशेष के उपयोग से कमाने लग जाएं तो संसाधन के संरक्षण, वृद्धि और प्रबन्ध में भी रूचि पैदा हो जाएगी। इस तरह से वन आधारित जीविकाएं लोगों को पारिस्थितिकीय पुनरूद्धार और प्राकृतिक संसाधनों के प्रबन्ध के लिए संगठित कर सकती हैं।

लोगों की संस्थाओं की भूमिका की युक्तिकरण

वर्तमान परिदृश्य में वन विभाग या सरकार द्वारा, सहभागी वन प्रबन्ध के लिए संगठित की गई लोगों की संस्थाएं इतने प्रकार की हैं कि वह भ्रमित करती हैं । राज्य ने, गांव वन विकास सभाएं (वी.एफ.डी.एस.), गांव-पारिस्थितिकी विकास सभाएं (वी.ई.डी.एस.), गांव विकास समितियां (वी.डी.सी.) संगठित की हैं और विशेष बात यह कि वनों को 14 लाईन विभागों में प्रबन्ध के लिए रख दिया है और इसका पर्यवेक्षण पंचायतों के हाथ में रखा है। यह संस्थाएं उन सब पारम्परिक स्थानीय संस्थाओं से भिन्न हैं जो वन प्रबन्ध में पहले महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थी । जैसे देवता समितियां, सुधार सभाएं एवं महिला मण्डल इत्यादि । जे.एफ.एम व पी.एफ.एम. के अन्तर्गत योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए संगठित संस्थाओं को अभी तक सामान्य और महत्वहीन भूमिकाएं व शक्तियां ही आंबटित की हैं । परन्तु इन संस्थाओं ने ऐसे समय में जब ग्राम समुदाय अपने आप को विषयक विभागों से दूर रखने लगे हैं; लोगों को इन कार्यों में सम्मिलित करने में अपनी योग्यता दिखाई है । जैसा नमूना के. एफ.सी.एस. ने प्रस्तुत किया है, वैसे स्थानीय संस्थाएं वनों के टिकाऊ प्रबन्ध में बहुत बड़ी भूमिका निभा सकती हैं पर इन्हें स्पष्ट और केन्द्रीय भूमिका देनी होगी । वनों के बारे में, वनों सम्बन्धी सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्य के रहते, यह परिवर्तन लाने में अगुवाई वन विभाग को ही करनी होगी । इसके लिए वन विभाग को स्पष्ट मील पत्थर और पुनर्व्यवस्था के संकेत इन संस्थाओं को बताने होंगे और वह कार्यक्रम जिनपर सहमति हो जाए गांव समुदायों को सौंपने होंगे ।

निष्कर्ष

हिमाचल प्रदेश का वन प्रबन्ध का इतिहास बताता है कि न तो वन विभाग और न ही अन्य सरकारी संस्थाएं स्वतः बदलती हैं । हिमाचल प्रदेश में गत 150 वर्षों से कोई महत्वपूर्ण विरोध या विद्रोह, वनों के अपहरण के विरुद्ध नहीं हुआ । आधुनिक विकास कार्यक्रम, 1970 से 1990 तक सरकारी नौकरियों की भरमार और व्यापार व विपणन अवसरों के खुलने से ऐसे दबाव खप गए

है । बड़े पैमाने पर केन्द्र सरकार द्वारा निवेश किए जाने से वन आधारित जीविकाओं का स्थान तृतीय क्षेत्र के विकल्पों ने ले लिया है ।

क्योंकि भारत के आर्थिक परिदृश्य में, उपलब्ध उपदानों में कटौती करने से, आकस्मिक परिवर्तन आ रहा है, अब अर्थशास्त्र सरकार को विवश करेगा कि वह वनों और उनके आर्थिक मूल्य की ओर ध्यान दे और आर्थिक एवं परिस्थितिकीय हितों के लिए सहभागी वन प्रबन्ध में बड़े पैमाने पर गांव समुदायों को जोड़ने की योजना बनाए । इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वास्तविकताओं को ध्यान में रखते हुए, और बदली हुई नीतियों, संस्थाओं और क्रियान्वयन विधियों को गतिशील बनाते हुए हिमाचल सरकार को इस बदलाव के प्रबन्धक की भूमिका निभानी चाहिए ।

बहुत से राज्यों ने एक दूसरा रास्ता चुना है । निजी उद्योगों को सुविधाकर्ता के रूप में लाया गया है और निजी लाभों को, वनों के सुधरे हुए आर्थिक प्रबन्ध की दिशा में-अग्रदूत बनाया है । इससे दो समस्याएं खड़ी हो गई हैं । सभी समुदायों, विशेषकर वन उपभोक्ताओं की कीमत पर कुछ ही लोगों को विशाल आय कमाने योग्य बनाना और आर्थिक तौर पर उत्पादक परन्तु परिस्थितिकी की दृष्टि से विनाशक वन उपयोग प्रक्रियाएं प्रचलन में लाकर दीर्घकालिक सम्पदा आधार की नींव नष्ट करना । जबकि यह तरीका केवल सरकारी आपूर्ति वनों में अपनाया जा सकता है, ज्यादातर वनों में स्थानीय समुदायों को उपलब्ध जीविका विकल्पों का विकास करना चाहिए यह कार्य टिकाऊ वन प्रबन्ध में, उनकी दावेदारी खड़ी करने और उसे बढ़ाने में, अग्रदूत की भूमिका निभाएगा । इससे स्थानीय आय खड़ी होगी और स्वतः- जारी रहने वाली और स्वतः नियामक वन प्रबन्ध प्रक्रियाएं भी अस्तित्व में आएंगी ।

हिमाचल प्रदेश को अब इन दो मार्गों में से एक को चुनना होगा । इसी निर्णय से यह तय होगा कि हिमाचल में वनों का और वनों पर निर्भर लोगों का भविष्य क्या होगा ।

End Notes

- ¹ The state property in wastes was quietly announced by the Board of Administration in 1852, 26 years before the statutory enactment of the Forest Act of 1878. The Board proposed: "...after defining the village boundaries and allowing such reasonable extent of land as may suffice for the wants of the communities being included in each area, to declare lands beyond these boundaries government property."
- ² Anderson. Final Report of the Settlement of Kangra District; Article 15 of Kangra Forest Record of Rights.
- ³ Para. 10.6 of the Garbett Commission's report, referred to in Rawal (1968) Volume I
- ⁴ Punjab Govt. notification No. 1522-C(S) dated 13.8.1938.
- ⁵ Letter No.568-Ft. dated 27.2.1940 from Deputy Secretary to Punjab Government, Development Department to the Chief Conservator of Forests, Punjab.
- ⁶ Vide Govt. letter No. 157/Ft. dated 18.1.1941.
- ⁷ Gov't. letter No.2742-Ft. dated 26.9.1941, from Secretary to Punjab Government, Development Department.
- ⁸ Memo No.238/Misc. dated 28/10/89, from the office of Conservator Forests, Dharamsala.
- ⁹ Traditional water-powered mills for grinding grain
- ¹⁰ Speech of His Excellency, the Governor of Punjab, at a special durbar at Palampur, 1941
- ¹¹ Letter No.1664 dated 17th May 1949
- ¹² From Registration Report of Bhagotla KFCS by the Assistant Registrar Co-ops Societies, Dharamsala, dated 29.6.1942
- ¹³ Report of Sh. M. Gurdas Mohan, E.A.C. Forests, dated 10.4.1942, sent to the Divisional Forest Officer, Kangra Forest Societies Division
- ¹⁴ Memo No 9653-D dated 3.11.1942 from Additional Registrar Cooperatives Department, Dharamsala to Divisional Forest Officer, Kangra Forest Societies Division
- ¹⁵ Kangra Village Forestry Scheme Rules, quoted in Rawal (1968) Volume 2
- ¹⁶ Inspection Note dated 9.9.54 of the Deputy Registrar (Development), Co-op Societies, Punjab
- ¹⁷ Persons entitled to a right over the land or trees in a protected forested which are the property of another, for example, the government.
- ¹⁸ Letter No.1664 dated 17th May 1949, from the Conservator of Forests, North East Punjab, Shimla
- ¹⁹ Notification of the Kangra Village Forest Scheme, vide letter No. 568-Ft. dated 27/2/1940 from the Deputy Secretary of the Punjab Govt. to the Chief Conservator of Forests, Punjab.
- ²⁰ Vide Para. VI (v) of Annexure III (a) to the Code of Procedure for KFCS: "standing orders regarding procedures to be adopted in the forest societies of Kangra District in forest offences under section 68 of the Indian Forest Act and other allied matters".
- ²¹ In Bahnala KFCS, in May 1995, a fallen mango tree was auctioned by the managing committee to a member. The FD raided and seized the tree on the charge that the KFCS had no powers to auction trees. The tree was then auctioned by the FD. The KFCS has now filed a case against this action of the FD in court and has demanded that the FD produce evidence to support its statement that the KFCS stand dissolved.
- ²² "These rates do not comply with the compensation rates laid down by the DFO concerned and nor is the amount deposited in the Treasury." Internal FD Notification, source unknown.
- ²³ Note dated 1.7.1955 from Sh. Bhim Sen Sachar, Chief Minister, Punjab, reproduced in Rawal (1968) Volume 2, pp. 125-26
- ²⁴ According to interviews with senior retired Cooperatives Department officials.
- ²⁵ Referred to in a report appearing in the newspaper Jansatta, dated 27.9.1996
- ²⁶ HP Govt. letter no. COP-F/S/-29/89 dated 6.10.1990
- ²⁷ Letter No. 4-55/70-SF dated 31/3/1973 from Forest Secretary to CCF, FD, HP. The same notification however increased the inspection fees payable by the KFCS as follows:
for first Rs 1,000 surplus income of the KFCS = 10 %
for the next Rs 4,000 = 12 %
for the next Rs 5,000 and above that = 15 %
- ²⁸ Reported in the daily newspaper, Dainik Tribune, 5/2/1996.

- ²⁹ Question No. 799, taken up and answered by the Forest Minister in the HP Legislative Assembly on 5/4/1994.³
- ³⁰ The union has collected funds from all its members and hired the services of an experienced advocate in the High Court Shimla. At the time of writing, the petition has been filed.
- ³¹ From Choudhary, CF Dharamsala, Parawise Comments on the Report on 'Revival of Cooperative Forest Societies in District Kangra and Cho Reclamation and Soil Conservation Societies of Una District', by the HP Institute of Public Administration. (undated document, probably 1990)
- ³² Ibid.
- ³³ Ibid.
- ³⁴ Vide his letter (No.F.9-45/3810, dated 12.6.1989) to all DFOs, and subsequently through Range Officers Jwalamukhi (15.7.1989), to all KFCS of Dehra Division.